

समयसार, १९९ गाथा, अन्तिम शब्द है। क्या कहते हैं ? निर्जरा का अधिकार है। आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति के स्वभाव से भरपूर प्रभु है। उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन में अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति होती है। उसमें यह जो राग दिखता है, कर्म का पाक, कर्म तो सत्ता में हैं परन्तु उसका विपाक आता है, उसमें जुड़ने से ज्ञानी को भी थोड़ा राग आता है परन्तु उस राग का स्वामी नहीं होता। राग का कर्ता नहीं होता, राग का स्वामी नहीं होता, राग में सुखबुद्धि नहीं होती। राग में मिठास नहीं है। धर्मी को आत्मा के आनन्द की मिठास आयी है। आहाहा ! भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, उसकी सत्ता-अस्तित्व 'है'—ऐसा अनुभव में आया, दृष्टि में 'है' ऐसा अनुभव में आया, तब उसकी मिठास के समक्ष शुभ और अशुभ कोई भी राग की मिठास छूट जाती है, दुःखरूप लगते हैं, आकुलता लगती है। आहाहा ! रागादि सब बोल आ गये हैं। इस प्रकार राग, द्वेष आदि सब लेना। यहाँ तक आ गया है, काया तक आ गया है।

यह शरीर है, शरीर की पर्याय है, वह तो जड़ की है। अभी भी इस शरीर की जो पर्याय है, वह तो पर्याय है, द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, अवस्था जो शरीर की है, वह तो जड़ है, सम्यग्दृष्टि को जड़ का स्वामीपना भी उड़ गया है, शरीर का स्वामीपना उड़ गया। शरीर की कोई क्रिया हलन-चलन हो, उसका धर्मी स्वामी नहीं है। आहाहा !

**मुमुक्षु :** श्रद्धा में...

**पूज्य गुरुदेवश्री :** श्रद्धा में... सब... सब आ गया है। यह तो अन्तिम बोल है।

मन, वचन और काया। नोकर्म में तो सब आ गया। अपनी आत्मा के अतिरिक्त सब चीजें जो हैं, उनकी पर्याय उसके काल में उससे होती है, तो मुझसे वह पर्याय हुई, ऐसा मिथ्यात्वभाव समकृति को नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म भाव है। अन्तर आत्मा सम्यक्, ऐसी पूर्ण चीज, अनन्त-अनन्त... कल कहा था न? कि अनन्त मुख करे और एक मुख में अनन्त जीभ करे, तो भी एक द्रव्य के-आत्मा के गुण की संख्या नहीं कही जा सकती। अनन्त मुख करे और एक-एक मुख में अनन्त जीभ करे, तो भी उस आत्मा में इतनी संख्या है, गुण की संख्या, हों! कि वह संख्या इतनी जीभों से भी नहीं कही जा सकती। ऐसा प्रभु जिसकी दृष्टि में आया और अनुभव में आया कि मैं तो आत्मा आनन्द हूँ। मैं तो सुख के पन्थ में पड़ा हूँ, मेरी चीज ही सुख है और मैं सुख के पन्थ में हूँ। आहाहा! रागादि आते हैं, वह दुःख पन्थ है। वह दुःख मेरी चीज नहीं है। मन मेरी चीज नहीं, वाणी मेरी चीज नहीं। काया-शरीर है तो वह अनन्त परमाणुओं की पर्याय है, वह मेरी चीज नहीं। मुझसे चलती नहीं, मुझसे बैठती नहीं। भाषा है, वह मुझसे निकलती नहीं। आहाहा!

**श्रोत्र,...** इन्द्रिय, वह मैं नहीं। कान, कान। वह जड़ है। वह तो मिट्टी की-पुद्गल की पर्याय है। वह मैं नहीं। उसके अवलम्बन से मैं सुनता ही नहीं। आहाहा! क्योंकि मेरा स्वभाव ही निरालम्बी ज्ञाता-दृष्टा है। तो वह जानना-देखना कोई पर की अपेक्षा से होता है, ऐसा है नहीं। इस प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय मैं नहीं, मेरी नहीं, मुझमें नहीं; उसमें मैं नहीं। आहाहा!

**चक्षु,...** चक्षु से भगवान को देखते हैं तो कहते हैं, वह चक्षु ही मेरी नहीं। मैं भगवान को देखता ही नहीं, मैं तो मेरी पर्याय को देखता हूँ। आहाहा! चक्षु ही मेरी नहीं। चक्षु से जो चीज जानने में आती है, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो मेरी पर्याय से जानने में आता हूँ। यह देखने में आता ही नहीं, वह तो परचीज है। आहाहा! मैं तो मेरी चीज से देखता हूँ तो वह श्रोत्रइन्द्रिय मेरी है ही नहीं। आहाहा! चक्षु ही मेरे नहीं। आँख से देखता हूँ, ऐसा है नहीं। कठिन बात है, पण्डितजी! आहाहा! क्योंकि जगत के जड़ पदार्थ वर्तमान पर्यायरहित तो है नहीं, तो वह पर्याय जड़ की है, तो उससे मैं जानता हूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा! इस

चक्षु से मैं जानता हूँ, ऐसा चक्षु ही मैं नहीं, उससे मैं जानता हूँ, ऐसा है ही नहीं। आहाहा!

घ्राण,... घ्राण इन्द्रिय मैं नहीं हूँ। द्रव्य इन्द्रिय तो नहीं परन्तु भावेन्द्रिय भी मैं नहीं हूँ। आहाहा! और उससे मैं सूँघता हूँ, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! मैं तो मेरे ज्ञान की पर्याय, पर है तो पर को जानती है, ऐसा नहीं है। अपनी पर्याय अपने से स्व-पर जानने की ताकत से जानती है, उसे मैं जानता हूँ। आहाहा! कठिन बात है, भाई! धर्म (कोई) साधारण चीज नहीं है। आहाहा!

रसन... जीभ मैं नहीं हूँ। जीभ तो जड़ की पर्याय है और उससे रस का स्वाद लेता हूँ, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! उस समय जीभ की पर्याय और रस की पर्याय को जानता हूँ, वह भी व्यवहार है। मैं तो उस समय की पर्याय मेरी है, स्व-परप्रकाशक पर्याय, उसको मैं जानता हूँ, उसका स्वाद मैं लेता हूँ। आहाहा! ऐसी बात है, इसलिए लोगों को भक्ति, व्रत, तप और पूजा में धर्म मनवा गये। यहाँ अन्दर में आना, अन्तर तल में आना महापुरुषार्थ है और वही पुरुषार्थ है।

स्पर्शन... यह स्पर्शन। मैं हाथ के स्पर्श को भी स्पर्शता नहीं और हाथ पर को स्पर्श करता है, यह भी नहीं। यह स्पर्श जो है, उसे मैं स्पर्श करता हूँ, छूता हूँ-ऐसा नहीं है। (क्योंकि) वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! और वह स्पर्श पर को स्पर्श करता है, पर शरीर को (स्पर्श करता है), ऐसा भी नहीं है। क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य की पर्याय के बीच तो अत्यन्त अभाव है। आहाहा! मैं पर को स्पर्शता हूँ, ऐसा तो नहीं परन्तु इस शरीर को मैं स्पर्शता हूँ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! और शरीर के स्पर्श का ज्ञान होता है, वह भी स्पर्श इन्द्रिय के कारण से नहीं। मेरा ज्ञानस्वभाव है, उससे स्व-परप्रकाशक, अपनी सत्ता से स्व-परप्रकाशक (ज्ञान) होता है। यह स्पर्श है तो मुझे स्पर्श का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। यह पाँच इन्द्रिय परसों बाकी रह गयी थीं, कल तो स्वाध्याय था।

ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसी उपदेश से दूसरे भी विचारना। जितने विकल्प हैं और जितनी संयोगी चीज़ें (हैं, उन) सभी चीज़ों को मैं स्पर्श नहीं करता और उन चीज़ों में मैं नहीं और वे चीज़ें मेरी नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि ऐसी है। यह १९९ (गाथा) हुई।

गाथा - २००

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुञ्चश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसम्पन्नो भवति ।

एवं सम्माद्दृष्टी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।

उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायक-स्वभावम् ।

उदयं कर्म-विपाकं च मुञ्चति तत्त्वं विजानन् ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टङ्कोत्की-णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानन्श्च स्वपरभावोपादानापोहन-निष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति ।

ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसम्पन्नो भवति ॥२००॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न होता है-यह इस गाथा द्वारा कहते हैं:-

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।

अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता ॥२००॥

गाथार्थ : [एवं] इस प्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [आत्मानं] आत्मा को (अपने को) [ज्ञायकस्वभावम्] ज्ञायकस्वभाव [जानाति] जानता है [च] और [तत्त्वं] तत्त्व को अर्थात् यथार्थ स्वरूप को [विजानन्] जानता हुआ [कर्मविपाकं] कर्म के विपाकरूप [उदयं] उदय को [मुञ्चति] छोड़ता है।

टीका : इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्मा का तत्त्व उसको (भलीभाँति) जानता है; और इस प्रकार तत्त्व को जानता हुआ, स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होनेयोग्य अपने वस्तुत्त्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों

को छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है (यह सिद्ध हुआ)।

भावार्थ : जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता—यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही (ज्ञानवैराग्य) ही सम्यग्दृष्टि का चिह्न है।

---

गाथा - २०० पर प्रवचन

---

२००। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ... है? यह अपेक्षा से कथन है। वास्तव में तो आत्मा जब स्वयं को जानने में रुका तो राग की उत्पत्ति होती नहीं, उसे राग को छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल, अनन्त काल, चौरासी के अवतार में एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये, बापू! भूल गया, सब भूल गया। भूल गया, वह भूल जाने योग्य तो है परन्तु भूला, वह स्वयं को याद किये बिना भूल गया। अपने को याद करके, भान करके भूल जाए तब तो भूलनेयोग्य है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि अपने को जानता... 'अपने को जानता हुआ' ऐसा कहा न? राग को जानता हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : राग को तो छोड़ता...

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ता है, यह भी निमित्त का कथन व्यवहार है। कहा न? आत्मा अपने स्वरूप में एकाग्र होता है तो राग उत्पन्न नहीं होता, तो राग छोड़ा—ऐसा कहने में अर्थात् कथनमात्र है। उपदेश कैसे करे? आहाहा! मार्ग बहुत अलग, बापू! तीर्थकर का। तीन लोक के नाथ तीर्थकर देव परमेश्वर की यह दिव्यध्वनि है। अभी तो लोग बाहर से यह करना और वह करना, यह करना। उसमें धर्म मान लेते हैं। कुछ करूँ, दया करूँ, राग करूँ यह भी मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : कल तो आप उसे 'मरना' ऐसा कहते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, कल इतना अधिक नहीं कहा? करना, वह मरना

है। क्यों? कि आत्मा ज्ञातादृष्टा है, उसे मैं राग करूँ, वहाँ रुका तो आत्मा के स्वभाव का जीवन है, उसका निषेध किया तो मरण किया। आहाहा! यह ज्ञातादृष्टा जीव का जीवन है, उसके बदले मैं इससे जीता हूँ—राग से, पुण्य से और इससे (जीता हूँ), राग करूँ वह तो मेरा स्वरूप है तो वह कर्ता नहीं है, ज्ञातादृष्टा है, उसका इसने अस्वीकार करके, उसका निषेध करके उसका मरण कर डाला। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

नियम से ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न होता है... धर्मी को तो अपने अस्तित्व का भान और पुण्य-पाप के विकल्प से विरक्त वैराग्य, इन दो शक्तिसहित धर्मी होता है। क्या कहा? अपना स्वरूप जो पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसका ज्ञान और पुण्य-पाप के भाव से विरक्तता, वह वैराग्य अर्थात् धर्मी ज्ञान और वैराग्य, (ऐसी) दो शक्तियों सहित होता है। अपने अस्तित्व का भान और अपने में नहीं है, उसका वैराग्य, विरक्ति... आहाहा! यह ज्ञान और वैराग्य दो शक्तिसहित होता है। २०० (गाथा)

एवं सम्माद्द्विद्वि अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।

उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो॥२००॥

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।

अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता॥२००॥

उपदेश की शैली तो ऐसी आवे न! टीका, २०० गाथा की टीका। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि... सम्यक्—सत्य दृष्टि। जैसा अपना पूर्ण स्वरूप है, वह पूर्ण सत् है, उसकी दृष्टि निर्विकल्प (हुई), उसका नाम यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया... अर्थात् सामान्य से भी पर का स्वामी नहीं और विशेषतया... एक-एक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न चीज़ हो, उसका भी वह स्वामी नहीं।

सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप... परभाव (अर्थात्) आत्मा के अतिरिक्त रागादि सब परभाव। आहाहा! सम्यग्दृष्टि (को) इस प्रकार से सामान्य अर्थात् संक्षेप से सबका त्याग और विशेष से भी एक-एक का रागादि अंश का भी त्याग (वर्तता है)। परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता)... करता है। छोटे में छोटा अंश राग हो, उससे भी भिन्नता करता है और शरीरादि बाह्य चीज़ बड़ी हो, अनन्त परमाणुओं स्कन्धादि (हों), उनसे भी भिन्नता करता है। आहाहा!

सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके,... इसकी इतनी मर्यादा है। बाकी नियमसार में तो पर्याय को भी परद्रव्य और परभाव कहा है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा के निर्मल पर्याय के अतिरिक्त यह रागादि, परद्रव्य आदि और परभाव यहाँ इतना। नियमसार में तो शुद्धभाव अधिकार में निर्मल पर्याय हो, धर्मपर्याय हो, (उसे) भी परभाव, परद्रव्य हेय (कहा है)। आहाहा! कितने प्रकार परभाव के? आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु अनन्त। पंच परमेष्ठी भी परद्रव्य और परभाव में जाते हैं। क्योंकि उनमें और अपनी पर्याय में अत्यन्त अभाव है। आहाहा! वह और यहाँ शरीरादि परभाव (कहे)। पुण्य-पाप परभाव और पुण्य-पाप को जाननेवाली पर्याय, वह भी त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से परभाव है। यहाँ इतना लेना नहीं। वहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी भावना के लिये नियमसार ग्रन्थ बनाया है। अपनी भावना के लिये बनाया है। अलौकिक! आहाहा! दुनिया से सब जाति-अन्तर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस राग का छोटे में छोटा विकल्प (आया), अरे..! जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधे, उससे भी भेदज्ञान करते हैं। वह मेरी चीज नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। आहाहा! मेरी चीज में नहीं, मैं उसमें नहीं, मैं उसका कर्ता और स्वामी नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सर्व परभावों से भेदज्ञान, भिन्नता करके... आहाहा! टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है... टंकोत्कीर्ण, ऐसा का ऐसा है। जैसे अदबदनाथ, है न पालीताणा? ऊपर से निकालकर अन्दर से मूर्ति निकाली, मूर्ति। वैसे भगवान् अन्तर में टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा अनादि-अनन्त है। आहाहा!

शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त निर्मल गुण की खान, निधान ऐसा जो भगवान् आत्मा एक ज्ञायकभाव... दो और पर्याय, वह भी यहाँ नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ, ऐसा पर्याय निर्णय करती है। पर्याय, मैं पर्याय हूँ—ऐसा निर्णय नहीं करती। आहाहा! वह तो पर्याय कार्य और कर्ता, कर्म आदि सब होता है पर्याय में, द्रव्य तो कूटस्थ, ध्रुव है। आहाहा! उस ध्रुव का निर्णय करनेवाली पर्याय कहती है कि, मैं तो ज्ञायकभाव हूँ। आहाहा! है ?

एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा जो आत्मा का तत्त्व... आहाहा! एक-एक गाथा समयसार, प्रवचनसार, अलौकिक है। यह कोई वार्ता नहीं है, भाई! यह

तो धर्म भागवत कथा, भागवत कथा है। नियमसार में अन्त में आता है, भागवत कथा है। भगवान आत्मा की कथा। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं कि, एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है... वहाँ ऐसा नहीं लिया कि पर्याय मेरा स्वभाव है, ऐसा भी नहीं लिया। पर्याय निर्णय करती है, वह ऐसा कहती है कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। आहाहा!

टंकोत्कीर्ण एकरूप भेदरहित, गुण-गुणी के भेद भी नहीं। रागादि तो नहीं, परद्रव्य तो नहीं परन्तु पर्याय भी नहीं, परन्तु गुण-गुणी के भेद भी नहीं। एक ज्ञायकभाव... आहाहा! चैतन्यबिम्ब ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, ऐसा एकरूप ज्ञायकस्वभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा जो आत्मा का तत्त्व... देखो! क्या कहा? एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा जो आत्मा का तत्त्व... यह आत्मा का तत्त्व। आहाहा! आत्मा भाव और यह भावस्वरूप, भाववान। ज्ञायकभाव स्वरूप, भाववान ऐसा आत्मतत्त्व। आहाहा! अब ऐसा बाहर की बातवाले को कठिन लगे। दूसरा क्या हो? भाई! यह चीज़ ही अन्दर ऐसी है, (कि) जिसे कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

पर्याय भी जिसमें ऊपर तैरती है। राग की बात तो क्या कहना? ज्ञायकभाव, उसमें पर्याय भी ऊपर तैरती है, अन्दर प्रवेश नहीं करती। आहाहा! वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। यह मेरा तत्त्व है। आत्मतत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा! है? टंकोत्कीर्ण, भेद करते हैं, पर से भेद उत्पन्न किया और अपने से अभेद क्या? टंकोत्कीर्ण जैसी चीज़ है, वैसी एक ज्ञायकभाव उसका स्वभाव है। किसका? ऐसा आत्मा। ऐसा जो आत्मा का तत्त्व... आहाहा! ज्ञायकभाव, वह आत्मा का तत्त्व है। आहाहा!

आत्मा और ज्ञायकभाव वह आत्मतत्त्व, आत्मा का तत्त्व। उसको (भलीभाँति) जानता है;... उन्हें भलीभाँति लिखना पड़ा। क्योंकि जानने के क्षयोपशम में बात आवे, वह अलग चीज़ है और अन्दर में अनुभव करना, वह दूसरी चीज़ है। आहाहा! इसलिए कहा कि (भलीभाँति) जानता है;... अर्थात् जैसा है, वैसा अनुभव करता है, जानता है इसका अर्थ। जैसा भगवान ज्ञायकभाव है, वैसा जो आत्मतत्त्व, उसे सम्यग्दृष्टि जानता है अर्थात् अनुभव करता है। समझ में आया?

और इस प्रकार तत्त्व को जानता हुआ,... इस प्रकार तत्त्व को जानता हुआ, स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होनेयोग्य... आहाहा! यह भेदज्ञान



की अपेक्षा से बात की। ज्ञानप्रधान कथन है। स्वभाव के ग्रहण... ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्व का स्वीकार, ग्रहण, आदर, वेदन, अनुभव और परभाव के त्याग से... रागादि का अत्यन्त अभाव, ऐसा आत्मा में परिणमन होना। आहाहा! यह २०० गाथा है। स्वभाव के ग्रहण... ज्ञायकस्वभाव पूर्ण स्वरूप एकरूप तत्त्व, अनन्त गुण भले हो परन्तु वस्तु तत्त्व तो एकरूप है। उस एकरूप का ग्रहण और परभाव का त्याग। आहाहा! ऐसे त्याग से उत्पन्न होनेयोग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ,... वस्तुत्व (अर्थात्) वस्तुपना, वस्तुपना। आहाहा! यह ज्ञायकभाव, यह वस्तुपना, उसे विस्तरित करता हुआ। आहाहा! ज्ञायक और दृष्टापने की दशा को फैलाता हुआ। आहाहा! जानना-देखना ऐसे स्वभाव को फैलाता हुआ, विस्तारता हुआ, पर्याय में, हों! आहाहा! वस्तु तो वस्तु है परन्तु वस्तु को ग्रहण करना अर्थात् उसे फैलाता है, विस्तार (करता है)। पर्याय में उसकी शुद्धि की वृद्धि होती है। आहाहा!

वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ,... देखा? वस्तु को नहीं, वस्तु को नहीं। वस्तुत्व—वस्तुपना, आत्मतत्त्व को ज्ञायकपना, उसे विस्तारता हुआ। आहाहा! ऐसी चीज़ है। ऐसा यह जैनधर्म होगा कहीं? जैनधर्म तो छह काय की दया पालना, अपवास करना, वर्षीतप करना, दान देना, बापू! यह कोई जैनधर्म नहीं है। यह तो राग है, वह जैनधर्म है ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो वीतराग त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर की यह वाणी है। सन्त आड़तिया होकर बात करते हैं। परमेश्वर ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं न? आहाहा! वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ,... आहाहा! जैसे कमल खिले, वैसे सम्यग्दृष्टि द्रव्य के स्वभाव को खिलाता हुआ। आहाहा! विकास करता हुआ। आहाहा! पर्याय में द्रव्य स्वभाव का एकत्व करने से विस्तार करता हुआ। आहाहा!

ऐसा कहाँ धर्म निकाला? कोई कहे। एकान्त है, ऐसा लोग कहते हैं। अरे! भाई! प्रभु! तू सुन तो सही। ऐसा कि, बारहवीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि, 'अपरमे ट्टिदा'। साधु, श्रावक को तो यह व्रत, तप, भक्ति, पूजा वह धर्म है, ऐसा कहा है। बारहवीं गाथा में ऐसा कहते हैं, 'अपरमे ट्टिदा भावे' अरे! भगवान! तूने टीका ही देखी नहीं। 'अपरमे ट्टिदा भावे' का अर्थ 'तदात्वे' उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। आदरणीय और करनेयोग्य है, यह बात ही वहाँ नहीं है। आहाहा! 'करुणादीप' में कल आया था।

सोनगढ़ी पन्थ तो एकान्त मिथ्यात्व है। क्योंकि जो क्रियाकाण्ड धर्म का पहले करना चाहिए, उसे तो धर्म मानते नहीं। बारहवीं गाथा में कहा है कि, पहले यह करना। श्रावक और मुनि का यह धर्म है। 'अपरमे द्विदा भावे' निचली दशा में तो यही होता है। परन्तु उसका अर्थ वहाँ तुझे खबर नहीं है, बापू! अमृतचन्द्राचार्य (ऐसा कहना चाहते हैं) 'तदात्वे' उस काल में स्वरूप शुद्ध है, उसका भान हुआ, अनुभव हुआ परन्तु पर्याय में अभी शुद्धता थोड़ी है और अशुद्धता थोड़ी है, उसे जानना। उस-उस काल में जिस-जिस प्रकार की शुद्धता और अशुद्धता पर्याय में है, उस पर्याय को जानना, वही व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! वहाँ करना और यह व्यवहारधर्म है, यह प्रश्न वहाँ है ही नहीं, भाई! आहाहा! सामने यह सब लेकर (कहे), सोनगढ़ का एकान्त है। चाहे जो कहे, बापू! भाई! तेरी चीज़ कोई अलग है। तुझे तेरी खबर नहीं है और तू दूसरे प्रकार से (मान रहा है)। आहाहा!

अपने वस्तुत्व को विस्तरित करता हुआ,... आहाहा! कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों... दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, शरीर, वाणी, मन, कर्म आदि सभी चीज़ें, उन सबको छोड़ता हुआ अर्थात् उनका लक्ष्य नहीं करता। आहाहा! समस्त भावों को छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है... आहाहा! अपने पूर्ण स्वरूप के अनुभव का ज्ञान और शुभ-अशुभभाव का विरक्तपना—वैराग्य, पर से तो वैराग्य होता ही है। अन्दर शुभ-अशुभभाव से भी विरक्त, वह वैराग्य। अस्तित्व का ज्ञान और पुण्य-पाप के नास्तित्व का वैराग्य। यह नहीं, ऐसा वैराग्य। यह ज्ञान और वैराग्य सम्पन्न है। आहाहा! दुकान छोड़ी और धन्धा छोड़ा और स्त्री, पुत्र छोड़े, इसलिए उसमें यह छोड़ा, ऐसा यहाँ नहीं है। आहाहा! वह वैराग्य नहीं है।

वैराग्य तो उसे कहते हैं कि जो शुभ-अशुभभाव है, उससे विरक्त हो। उसमें रक्त है, वह मिथ्यात्व है। जिससे विरक्त हो और स्वभाव की दृष्टि में पूर्ण को स्वीकार करे और इस ओर से राग से अभाव—वैराग्य हो, वह ज्ञान और वैराग्य दो शक्ति धर्मी की होती है। आहाहा! है? इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से... अर्थात् निश्चय से ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है... स्वरूप का ज्ञान और विकार के अभाव का वैराग्य। आहाहा! इससे धर्मी जीव ज्ञान और वैराग्य सम्पन्न होता है। (यह सिद्ध हुआ)। यह साबित किया। आहाहा!

**भावार्थ – जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने...** ज्ञायकभावरूप और सुखमय। वजन यहाँ है। अपने को ज्ञायकभाव और आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दमय (जाने)। आहाहा! भावार्थ है? भगवान आत्मा ज्ञायकभाव और आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दमय, सुखमय; सुखवाला-ऐसा भी नहीं। सुखवाला (नहीं), सुखमय। अतीन्द्रिय आनन्द सुखमय प्रभु आत्मा तो है। आहाहा! अपना स्वरूप ही अतीन्द्रिय आनन्दमय है। इसलिए सुखमय कहा। मय अर्थात् उसरूप, ऐसा। सुखरूप, सुखवाला (नहीं), स्वरूप ही सुखरूप है। भगवान अतीन्द्रिय आनन्दरूप ही है, सुखमय है। सुखवाला, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, इसलिए लोगों को व्यवहार का लोप करे तो ही निश्चय होता है, इसलिए यह लोगों को सुहाता नहीं। व्यवहार करे... व्यवहार करे... व्यवहार करे। दया, व्रत, भक्ति, तपस्या, अपवास करे, फिर होता है या नहीं? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पहले से स्वभाव की पूर्णता का भान, अनुभव और राग से-विकल्प से लेकर पूरी चीज़ का वैराग्य। उससे अत्यन्त अभाव स्वभावरूप परिणमन। पण्डितजी! ऐसी बात है। आहाहा! यहाँ तो भाई! संसार के विकल्प से मर जाना है, बापू! आहाहा! शुभाशुभराग से तो मर जाना है और चैतन्य के स्वभाव से जीवन बिताना है। आहाहा! प्रभु तो ऐसा कहते हैं, बापू! तुझे लगे, न लगे अलग बात है। आहाहा! तीन लोक का नाथ, उसके ज्ञान में तीन काल ज्ञात हुए, उनकी वाणी में यह आया। वह यह प्रवचन। दिव्यध्वनि कहो या प्र-विशेष वचन कहो। यह दिव्यध्वनि है।

**अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने...** अकेला ज्ञायकभाव नहीं लिया। क्योंकि पर में कहीं-कहीं सुखबुद्धि रह जाए, वहाँ तक मिथ्यात्व रहता है। आहाहा! अपने आत्मा में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का गंज, पुंज भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त किसी चीज़ में—शरीर में, स्त्री में, कुटुम्ब में—परिवार में, इज्जत में, मकान में, कपड़े-बपड़े और गहने बराबर ठीक से पहने तो यह मुझे ठीक है, मजा है। आहाहा! यह सब मिथ्यात्व शल्य है। आहाहा!

**जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप...** ज्ञायकभाव लिया है न? द्रव्य जो है, वह भाववान है, यह उसका ज्ञायकभाव है, ज्ञायकपना है, उसका—भगवान का तत्त्वपना यह है। आहाहा! यह ज्ञायकभावरूप और सुखमय। ज्ञायकभावरूप। देखा? तन्मय है न?

ज्ञायकभाववाला, ऐसा भी नहीं। ज्ञायकभावरूप और सुखमय। अभेद वर्णन किया। आहाहा! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म पड़े, प्रभु! परन्तु यह करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जन्म-मरण (मिटेंगे नहीं)। आहाहा!

यह चौरासी के अवतार, एक-एक अवतार में इसने दुःख भोगे हैं। आहाहा! नरक की दस हजार वर्ष की जघन्य स्थिति, उसके दुःख का वर्णन, प्रभु कहते हैं कि करोड़ों भव में और करोड़ों जीभों से नहीं होता। तेरे गुण जैसे अनन्त मुख से और अनन्त जीभों से नहीं होते... आहाहा! वैसे तेरा दुःख जो है... आहाहा! वह भी करोड़ों भव में और करोड़ों जीभों से (वर्णन) नहीं होता। आहाहा! अनन्त भव में तो नहीं क्योंकि दुःख की मर्यादा है न? यह तो अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान तो अमर्यादित स्वभाव है। है? आहाहा! क्योंकि दुःख कहीं, आत्मा में आनन्द और ज्ञान शक्तियाँ अमर्यादित है, ऐसा कहीं दुःख नहीं है। दुःख तो मर्यादित है। आहाहा! परन्तु मर्यादित दुःख में भी अनन्तता है, कहते हैं। आहाहा! करोड़ मुख से और करोड़ जीभों से नहीं कहा जा सकता, बापू! आहाहा! तुझे किसका हर्ष का आवेग पर में आता है? ऐसा कहते हैं। पर में हर्ष का आवेग, हर्ष प्रभु! हर्ष तो, आनन्द तो तेरा तुझमें है। आहाहा!

जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने... आकुलतारूप। रागादि, विकार। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी आकुलतारूप है। आहाहा! आकुलतारूप दुःखमय जाने, तब ज्ञानरूप रहना... तब तो अपने ज्ञायकरूप और सुखमय आत्मा को जाना तो वहाँ रहना, वहाँ आसन लगाना। आहाहा! उदासीन। राग से उदासीन होकर स्वभाव में आसन लगाना। आहाहा! ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता... है न? पर राग आदि से विरागता। आहाहा! यह दोनों अवश्य ही होते हैं। दोनों अवश्य होते हैं।

यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यह बात प्रगट अनुभवगम्य है। भगवान् आनन्दस्वरूप है, रागादि दुःखरूप है, यह तो प्रगट अनुभवगम्य है। आहाहा! यही (ज्ञानवैराग्य) ही सम्यग्दृष्टि का चिह्न है। यह ज्ञान और ऐसा जो वैराग्य। पूर्ण स्वरूप ज्ञानमय का ज्ञान और राग से विरक्तता, ऐसा वैराग्य, वह सम्यग्दृष्टि का लक्षण है, वह सम्यग्दृष्टि का चिह्न है। आहाहा!

जो जीव परद्रव्य में आसक्त-रागी हैं... आहाहा! राग के कण में भी जिसे प्रसन्नता और खुशीपना है। और सम्यग्दृष्टि का अभिमान करते हैं,... आहाहा! सूक्ष्म में सूक्ष्म राग दया, दान, व्रतादि और गुण-गुणी के भेद का राग, उस राग का जिसे प्रेम है, आसक्त है। आहाहा! और सम्यग्दृष्टि का अभिमान करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते हैं” इस अर्थ का कलशरूप काव्य अब कहते हैं:- लो, कलश है न कलश ?

### कलश - १३७

( मन्दाक्रान्ता )

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-  
दित्युत्तानोत्पुलक-वदना रागिणोऽप्याचरन्तु।  
आलम्बन्तां समिति-परतां ते यतोऽद्यापि पापा,  
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

श्लोकार्थः : [अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः मे जातु बन्धः न स्यात्] “यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं कहा है)” [इति] ऐसा मानकर [उत्तान्-उत्पुलक-वदनाः] जिन का मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे [रागिणः] रागी जीव (-परद्रव्य के प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव-) [अपि] भले ही [आचरन्तु] महाव्रतादि का आचरण करें तथा [समितिपरतां आलम्बन्तां] समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें [अद्य अपि] तथापि [ते पापाः] वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, [यतः] क्योंकि वे [आत्म-अनात्म-अवगम-विरहात्] आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से [सम्यक्त्वरिक्ताः सन्ति] सम्यक्त्व से रहित हैं।

भावार्थः : परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि ‘मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता’ उसे सम्यक्त्व कैसा। वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे तथापि स्वपर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। जो यह मानकर कि ‘मुझे

बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है और जब तक राग रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निन्दा-गर्हा करता ही रहता है। ज्ञान के होनेमात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीनतारूप-शुद्धोपयोगरूप-चारित्र से बन्ध कट जाते हैं। इसलिए राग होने पर भी, 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दता प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि - "व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है?" उसका समाधान यह है - सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि - "परद्रव्य में जब तक राग रहे तब तक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझ में नहीं आयी। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है?" उसका समाधान यह है - यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भावों में आत्म-बुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्वपर का ज्ञान श्रद्धान नहीं है-भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत समिति का पालन करे तथापि जब तक पर जीवों की रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से अपनी मुक्ति मानता है और पर जीवों का घात होना तथा अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभ भावों से ही अपना बन्ध होना मानता है तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्वपर का ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इस प्रकार जब तक जीव परद्रव्य से ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करता है तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जब तक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि जीव रागादि में तथा रागादि की प्रेरणा से जो परद्रव्यसम्बन्धी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता है कि - यह कर्म का जोर है; उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती इसलिए रोग का इलाज करने में प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन से मानता है। अतः सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है। इस प्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा; इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है। सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि के भावों के) अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है—व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रम होता है अथवा निश्चय को भलीभाँति जाने बिना व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है। यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है।॥१३७॥

कलश - १३७ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-  
दित्युत्तानोत्पुलक-वदना रागिणोऽप्याचरन्तु।  
आलम्बन्तां समिति-परतां ते यतोऽद्यापि पापा,  
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

[अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः मे जातु बन्धः न स्यात्] 'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता...' ऐसा कि मैं चाहे जैसे विषय भोगूँ, परन्तु



मुझे बन्ध नहीं है। शास्त्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है। अरे! भाई! कहा है वह किसकी अपेक्षा से? आहा! जिसे राग का राग छूट गया है और स्वभाव के प्रेम में रुचि का परिणमन हो गया है। आहाहा! उसे कहा है कि विषय भोगते हुए भी उसे बन्ध नहीं है। और तू स्वच्छन्दी होकर ऐसा कहता है कि हम सम्यग्दृष्टि हैं, विषय भोगते हुए बन्ध नहीं है। आहाहा!

‘मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं कहा है)’ ऐसा मानकर... [उत्तान्-उत्पुलक-वदना:] जिन का मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है... हमारे क्या है? शरीर का धर्म शरीर करे। भोग शरीर करे। अरे! बापू! भाई! तुझे अन्दर राग की एकता की बुद्धि पड़ी है, मिथ्यात्व है और तू ऐसा मानता है कि यह मुझे बन्ध नहीं है। आहाहा! ऊँचा और पुलकित हो रहा है, ऐसे रागी जीव (-परद्रव्य के प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव-) भले ही महाव्रतादि का आचरण करें... ठीक! महाव्रत भी राग है। राग का प्रेम है कि यह आचरण मेरा है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। भले महाव्रत का आचरण करे। आहाहा! पंच महाव्रत पालन करे तो भी मिथ्यादृष्टि है। महाव्रत राग है, राग का प्रेम है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! तब दूसरी जगह कहा है न कि मुनियों को महाव्रत पालना। महाव्रत तो महा व्रत बड़े हैं। उनके जैसा बड़ा कोई नहीं है। ऐसा आता है न? यह तो बापू! अन्दर स्वरूप की रमणता हुई है, उसकी भूमिका में निश्चय महाव्रत है, उसमें व्यवहार से व्रत है, उनकी बातें की हैं। आहाहा!

यहाँ यह स्पष्ट कहा न! महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें... बराबर मन्द राग से मौन रहे, कम बोले। आहाहा! निर्दोष आहार ले, वह तो सब राग का क्रियाकाण्ड है। उसमें तत्पर रहे, तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं,... ठीक! महाव्रत पाले तो भी पापी है, मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं। आहाहा! विशेष कहा जाएगा....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)